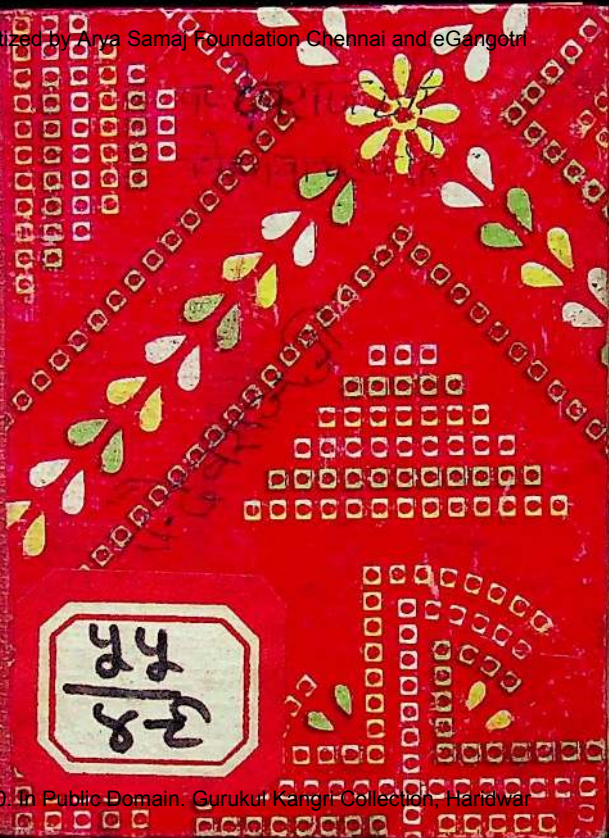




Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५५
४३

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्व

विषय संख्या

आगत

19142-11

16 2005
Library

आयुर्वेद में दार्शनिक तत्व

लेखक—

विद्यावाचस्पति प्रोफेसर

पण्डित देवराजजी

DIGITIZED BY CC-0

674,3



19142

प्रकाशक—

वैद्य बांकेलाल गुप्त

सम्पादक धन्वन्तरि

Gurukul Kangri

श्रीधन्वन्तर्येनमः

आयुर्वेदम्

दार्शनिकतत्व

लेखक—

श्रीमान् पं० देवराज जी विद्या घाचस्पति
विश्व विद्यालय गुरुकुल काङ्गड़ी

प्रकाशक—

वैद्य भास्कर वांकैलाल गुप्त सम्पादक धन्वन्तरि
श्रीधन्वन्तरि औषधालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

प्रथमवार
५०० प्रति

सन् १९२७

{ मूल्य १)

धन्वन्तरि प्रेस विजयगढ़ में मुद्रित

674,3



19142

७.७
व
२३८
आश्रों
नेक
स
में
प्रायु
निबं
कुली
जनत
प्रका
से
शित
क

भूमिका

संमान आयुर्वेदीय हिन्दी साहित्य में वैज्ञानिक और दार्शनिक पुस्तकों का नितांत अभाव है तथा बच्चों को और वैद्यक पाठशा-
लियों के अध्यापकों का ऐसे साहित्य के पढ़ने और पढ़ाने का ध्यान भी नहीं है ऐसी अवस्था में गुरुकुल कांगड़ी के साहित्य परिषद ने अपने अधिवेशन में आयुर्वेद में दार्शनिक तत्व विषय चुन लिये समाज एवं आयुर्वेदीय साहित्य का बड़ा उपकार किया है यह निबन्ध पं० देवराज जी विद्या बाचस्पति द्वारा गुरुकुलीय साहित्य परिषद में पढ़ा गया और उपस्थित जनता द्वारा प्रशंसित हुआ तथा धन्वन्तरि में क्रमशः प्रकाशित हुआ और पाठकों ने बड़ा पसन्द किया इस से ही उत्साहित होकर हमने इसे पुस्तकाकार प्रकाशित किया है आशा है कि पाठक इसे अपना लेखक के भक्त को सौंप देंगे।

—प्रकाशक

विषय सूची

विषय

पृष्ठ

१ आयुर्वेद में दार्शनिकत्व की आवश्यकता ।

२ आयुर्वेद का दार्शनिक तत्त्व से सम्बन्ध ।

३ वात, पित्त, श्लेष्मा का दार्शनिक तत्त्व से सम्बन्ध ।

४ वात, पित्त, श्लेष्मा के गुणों पर दार्शनिक विचार ।

५ वात, पित्त, श्लेष्मा के चय कोप और क्षय

ऋतु से सम्बन्धी विचार ।

६ भिन्न २ प्रदेशों में उत्पन्न द्रव्यों का शीतोष्ण

सम्बन्धी विचार ।

७ वात, पित्त, श्लेष्मा का भेद निरूपण ।

८ आयुर्वेद के साथ षड् दर्शनों के दार्शनिक विचारों की तुलना ।

९ उपसंहार ।

आयुर्वेद मे दार्शनिक तत्व की

आवश्यकता

पृ

स्व

चार

य

गीतो

न वि



ह ऐसा विषय है कि जिसकी ओर हमारे सुयोग्य वैद्यों को विशेष ध्यान देना चाहिए । इस विषय को बिल्कुल उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा रहा है ।

मनुष्य से वौद्यों का यही मन्तव्य है कि आयुर्वेद प्राचीन चिकित्सा पद्धति (Ancient system of medicine) है । चिकित्सा के लिए दार्शनिक तत्वकी आवश्यकता नहीं है अतः आयुर्वेदका दार्शनिक तत्व किसी भी सन्दर्भ में नहीं है । विभिन्न रोगोंमें बारम्बार प्रयोग करके चिरकाल से निश्चितकी हुई औषधों से

रोगियों की चिकित्सा हो ही जाती है फिर दार्शनिक तत्व का आयुर्वेद से कोई संबंध हो भी विद्यमान भी अब इस विचार की कुछ आवश्यकता नहीं प्रयोग इस प्रकार का विचार थोड़ा नहीं किंतु अत्यधिक मात्रा में नवीन वैद्यों में फैल रहा है और वे अनुकार्य प्रयोगों से अपना कार्य चला रहे हैं। इन वैद्यों में प्रयत्न आयुर्वेद का आश्रय लेकर अपनी आजीविमहा मात्र सिद्ध करना है। इस प्रकार के वैद्यों से अनियत वेद रक्षा की आशा करना व्यर्थ है। किसी आधुनिक विज्ञान के आधार में कुछ स्थिर सृष्टि नियम हैं। यदि विज्ञान वेत्ता उन सृष्टि नियमों को भुल दें वा उनकी ओर ध्यान देना छोड़ दें और उन नियमों के आधार पर सिद्ध किये हुए प्रयोगों से ही अपनी व्यावहारिक कार्य चलाने लगें तो आप निश्चय जानेंगे कि वह विज्ञान उन्नति तो होगा ही नहीं सिद्ध

दाभी नहीं रहेगा और उसकी मृत्यु होजावेगी । जो
 भी विद्वान् नियमों को जानकर उनका नाना विधि
 नहीं प्रयोग करना जानते हैं वे वैज्ञानिक होते हैं विज्ञान
 तथ्यकी उन्नति कर सकते हैं । जो बने बनाये यन्त्रों से
 अनुकार्य लेना मात्र जानते हैं वे वैज्ञानिक नहीं कहलाते
 यों अमेरिका का एडिसन आज कल के संसारमें एक
 जीविमहान् वैज्ञानिक है । वह भौतिक विज्ञान के सूक्ष्म
 अनियमों को जानता है उसने शब्द के नियमों के
 भी आधार पर ग्रामोफोन यन्त्र का आविष्कार किया ।
 म ह्मन् लोग जो ग्रामोफोन यन्त्र को बेचते हैं वा
 भुजस यन्त्र से गीत खुनकर मनो विनोद करते हैं,
 नियम अपने मानसिक कण्ठ को दूर करते हैं वे वैज्ञानिक
 अपनहीं कहलाते । रेलगाड़ी के पंजिन का आविष्कार
 जाक जिसने डेगची में खोलते हुए पानी की भाप सं
 स्थिच्छलते हुए ढक्कन को देखकर जलकी भाप के वन

के नियम को जान कर एंजिन का अविष्कार प्रक
 किया वह वैज्ञानिक था । अन्य लोग जो इज्जिष्का
 चलाते हैं या उसे सुधारते हैं और भाप के बल दाश
 नियम को जानते हैं वे विज्ञानिक नहीं कहलाते का
 वे तो अपनी आजीविका के लिए वृत्ति करते हैं के
 यदि विज्ञान क्षेत्र में अविष्कार करने वाले दो निय
 के भौतिक नियमों का पता लगाकर उनका उपयो वैज्ञ
 दिखाने वाले तत्त्ववेत्ता वैज्ञानिक मंद हो जावे त तत्व
 स्पष्ट है कि संसार की गति मंद हो जावेगी विज्ञ
 समय २ के अनुभार मनुष्यों की आवश्यकताओं के नि
 अनुकूल श्रष्टि के भौतिक नियमों का प्रकाश ज सक
 वन्द हो जावेगा तो आप समझ सकते हैं नि
 अज्ञानान्धकार में प्रगति नहीं हो सकेगी। ठीक इस आ
 प्रकार हमारे आयुर्वेद विज्ञान की दशा है । प्राची वि
 ऋषि मुनियों ने आयुर्वेद के वैज्ञानिक तत्त्व का

प्रकाश करनेके लिए इसके दार्शनिकतत्व का आवि-
 ष्कार कियाथा। यदि वे चरक सुश्रुत आदि ग्रन्थोंमें
 दार्शनिकतत्व का आविष्कार नकरते तो आज आयु
 का जो कुछ महत्व प्रकटहै वह उसके दार्शनिकतत्व
 के आधार परही है। जैसे भौतिक विज्ञान सम्बन्धी
 नियमों का आविष्कार करके विद्वान् पुरुष जगत् में
 वैज्ञानिक कहाते हैं, इसीप्रकार आयुर्वेदके दार्शनिक
 तत्वको आधार में रख कर जो विद्वान् द्रव्य गुण
 विज्ञान, रोग परीक्षा चिकित्सा और स्वास्थ्य रक्षा
 केनियमोंका आविष्कार करतेहैं वे आयुर्वेदज्ञ कहला
 सकते हैं जो भिन्न २ रोगों की चिकित्सा के लिए
 निर्यारितद्रव्योंका प्रयोग करतेहैं या उन्हें चैबते हैंवे
 इस आयुर्वेदज्ञ कहलाने के अधिकारी नहीं हैं वे द्रव्य
 विक्रेता या आयुर्वेदोपजीवी हैं। आजकल आयुर्वेद
 में वर्तमान दार्शनिक तत्व की ओर से गैरों का

ध्यान हटता जोर श है। द्रव्यविक्रेता तथा प्रयोक्ता
 निर्माता का कार्य्य समहाल कर वैद्य अपनी आज्ञायु
 धिका चलाकर अपने को कृतकृत्य समझने लगे हैं।
 जैसे आविष्कारक वैज्ञानिकों के अभावसे विज्ञान के म
 गति रुद्ध होजाती है इसी प्रकार आयुर्वेद के दा आयु
 निक तत्व में गति रखने वाले विद्वानों के अभावचा
 आयुर्वेद की गति रुद्ध हो रही है और रुद्ध हो (इस
 जावेगी। इस समय दार्शनिक तत्व की ओर आयु
 वैद्यों की दृष्टि हटजाने से विदेशीय चिकित्सक दुर्ब
 पद्धति के अनुसर्त्ता विदेशीय तथा एतद्देशी मूल
 जन आयुर्वेद के देह पर इस प्रकार आक्रमण क
 रहे हैं जैसे किसी प्राणि के देह पर रोग के आग
 कारण रोग को उत्पन्न करके दोषों को कुपित क
 देते हैं और पश्चात् शरीर को व्याधि का घर बन
 देते हैं। आयुर्वेद पर आक्रमण करने वाला क

प्रयोगशाला करने की हिम्मत इस लिये हुई है क्योंकि
 आयुर्वेदकी आत्मा (इसके दार्शनिक तत्व) की पूजा न
 होगे त्तरके हमने उसे निर्गल कर दिया है। यदि आयुर्वेद
 के महत्व पर अभिमान रखने वाले आयुर्वेद शास्त्री
 आयुर्वेदकी चिकित्सा करके इसे फिर उज्ज्वल करना
 चाहते हैं तो उनका कर्तव्य है कि आयुर्वेदकी आत्मा
 (इसके दार्शनिक तत्व) को उज्ज्वल करें। जब
 आयुर्वेद की आत्मशक्ति प्रबल होगी तो इसकी
 दुर्बलता या क्षीणता को प्रकट करने वाला क्षयरोग
 मूलतः नष्ट हो जावेगा अन्यथा ऊपर की चुगड़ी
 चुगड़ी से वां रोग चिकित्सा से आयुर्वेद का
 उद्धार न होगा। अतः यदि वैश्यों को आयुर्वेदकी
 उन्नति अभीष्ट है तो इसके दार्शनिक तत्व को विशद
 करने की ओर विशेष प्रयत्न करना चाहिए।

आयुर्वेद का दार्शनिक तत्व से सम्बन्ध-सम
 इसमें किसी को संशय नहीं कि रोगों की चिकित्सा
 के लिये आज कल जितनी उत्सुकता दिखाई जा
 है, उसके अनुसार रोगों की चिकित्सा कुछ लाभ
 दिखाई नहीं देती । चिकित्सक रोगी मिल चाह
 चिकित्सालयों में चिकित्सा का खेल खेलते हैं
 रोग को दूर करने के लिये चिकित्सकों को आप और
 में व रोगियों के साथ शर्तें बंध जातो हैं और रोग
 चिकित्सा आरम्भ हो जाती हैं । रोगी जन जी अफ
 कोपार्जन में रोग के आविर्भाव होने से बाधा का
 होने के कारण कहते हैं कि 'वैद्यजी ? ऐसी निश्च
 दवाई दीजिये कि देते ही आराम होजाय और क आत
 में काम पर चला जाऊँ " वस ? यदि एक दिन वि
 दिन में रोग को वैद्यजी ने नहीं पछाड़ दिया तसुक
 वैद्यजी स्वयं पकड़े हुए व आनन्दित स्वप्न में जाते हैं ।

न्य-समय के प्रभाव के कारण रोगियों में अधीरता की
 क्रिस्तात्रा इतनी अधिक बढ़ गई है कि रोगी अपने को
 रोगमुक्त करना नहीं चाहते किंतु अपनी मनोभि-
 लाषा को यथा तथा पूर्ण करने के लिये सामर्थ्य
 चाहते हैं ।

दाशनिक तत्व की अवहेलना करने से रोगी
 और उनके चिकित्सक यह भी भूल गये हैं कि
 रोग की स्थिति कहां है । ग्रीस देश के तत्ववेत्ता
 अफलातून या प्लेटोने सिर दर्द के किसी रोगी
 का वर्णन किया है जिसके विषय में सुकरात ने
 निश्चय किया कि चूंकि किसी भी रोग की जड़
 आत्मा में होती है अतः जब तक आत्मा का इलाज
 न किया जायगा तब तक रोग दूर नहीं होसकता
 सुकरात ने कितना अच्छा विचार उपस्थित किया
 है । जैसा सूक्ष्मशरीर व आत्मा होगा वैसा ही स्थू-

ल शरीर अपनारूपधारण करेगा। सूक्ष्मशरीरमें निरा
प्रकार की विकृति उपस्थित होगी स्थूल शरीरमें स्वभा
उसका प्रति बिम्ब शीघ्रही भासमान होगा। सूक्ष्म
शरीर जैसे २ अविच्छिन्न, स्वस्थ और प्रसन्न रहे
वैसे २ स्थूल शरीरभी स्वस्थ और प्रसन्न बने।
इस लिए यदि कोई रोगी पूर्ण स्वस्थ होकर परमात्मा
नन्द की प्राप्ति चाहता है तो उसे अपने आत्मा को
पवित्र करने में प्रयत्न करना चाहिये।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने रोगों के स्वाभाविक
धिक और नैमित्तिक भेद बता कर जरा और मृत्यु
को भी स्वभाविक रोग माना है। और उन रोगों
चिकित्सा के लिए विचित्र प्रयोगों का आविष्कार
किया है। जरा और मृत्यु का सम्भव भी दोष
की विषमता के बिना नहीं है अतः रोग के लक्षणों
नुसार (रोगस्तु होयतैशमं दोषास्तस्यमवेतम्)

रमें शरीर और मृत्यु की भी परिगणना की गई है । यथा-

शरीरवर्धनार्थकाः (व्याधयः) क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्रा

प्रभृतयः

सु. सू. अ० १, ५५

यदि विशेष साधनों से दोषों की विषमता को हटाते हुए दोषों की समता बना रखी जाय तो जरा और मृत्यु को भी जीत लेना असम्भव नहीं यद्यपि कठिन अवश्य है ।

जरा और मृत्यु को दूर करने के साधन स्नायुचर्यादि और रसायन औषध बताए हैं । यथा:-

उक्त “रसायनं हि तत्प्रोक्तं यज्जराव्याधिनाशनम्”

इस लक्षण के अनुसार रसायन भेषज केवल जरा का ही नाश नहीं करती अपितु व्याधि को भी हटाती है । रसायन भेषजों का प्रभाव तीव्र और स्थायी होने के कारण रोगियों और चिकित्स

को की दृष्टि रसों पर विशेष आकृष्ट है । यद्यपि
 सुनिके अनुसार रसायन भेषज रसासृगादि धामन
 में उचित परिणित (Metabolism) को
 के लिए प्रयुक्त होती हैं । यथा:—

“लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनं
 च०चि०अ०१०१

जो रसायन औषधि आयुवर्द्धक हैं रने
 रोग भी नाशक हैं वे उन्हीं लोगों के लिये लाभ
 होती हैं जिन्होंने अपने मन और शरीरों को
 कर लिया है । जिन्होंने शरीर और मानस
 दूर नहीं किया उन्हें रसायन से कोई फल
 मिलता । कहा है—:

यथास्थूलमनिर्वाह्य दोषान् शरीर मानसान्
 रसायनं गुणैर्जन्तु र्युज्यते न कदाचन ॥

योगाद्यायुः प्रकर्षथां जरारोग निवहर्णाः ।

दधामनुशरीर शुद्धानां भिद्यन्ति प्रयतात्मनाम् ॥

को र इसलिये जो हतात्मा पुरुष हैं अर्थात्
जन्हों ने मनआदि इन्द्रियों को विषय सेवा में
पायनत हुए वे काम करते हैं जो आयु को क्षीण करने
आले हैं, शरीर दोषों को विकृत करके रोग पैदा
हैं करने वाले हैं, उन पुरुषों को रसायन तन्त्र का
लाभ उपदेश नहीं करना चाहिए और जिन्हें सुनने की
आकांक्षा नहीं पैदा हुई उन्हें भी उपदेश नहीं करना
चाहिए । कहा है—:

तदेतन्न भवेद्वाच्यं सर्वमेव हतात्मने ।

अरुजेभ्यो द्विजातिभ्यः शुश्रवायेषुनास्ति च ॥

च०प्रि०अ०१

चरकाचार्य बतलाते हैं कि किन गुणों से

युक्त मनुष्य को रसायन सेवन से लाभ होता
यथा—

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात् ।

अहिंसकमनायासम्प्रशांतं प्रियवादिनम् ॥

याज्यशौच परं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्
देवगोब्राह्मणाचार्य गुरुवृद्धार्चने रतम् ॥

आनृशंस्यपरन्नित्यं नित्यं करुणावेदिनम् ।

समजागरणं स्वप्न नित्यं क्षीर घृताशिनम्

देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनद्वन्द्वतम् ।

शस्ताचारमसंकीर्णं मध्यात्मप्रवर्णेन्द्रियम् ॥

उपासितारं वृद्धाना मांस्ति कानां जितात्मना

धर्मशास्त्रपरं विद्यान्तरं नित्यं रसायनम् ॥

गुणैरतैः समुदितैः प्रयुङ्क्तैः यो सारयनम् ॥

रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तात् समसंनुते ॥

होत आज कल संसार चक्र उलटा चल रहा है ।
 जेस मनुष्य में ये उपर्युक्त गुण विद्यमान हैं उसे
 रसायन सेवन की आवश्यकता नहीं समझी जाती
 ॥ यदि ऐसा मनुष्य रसायन सेवन करे तो लोक में
 नन्दित समझा जाता है । जो मनुष्य रसायन
 नम सेवन करने के सर्वथा अयोग्य है, जिनमें उपर्युक्त
 ॥ गुण विद्यमान नहीं हैं जो कामी क्रोधी, लोभी मोही
 म और व्यसनी हैं वे रसायनों के पीछे पड़े हुए अ-
 नम धिकर संसार में अनाचार फैला रहे हैं । रसायन
 सेवन करके बूढ़े भी जवान बनने की कोशिश कर
 म ॥ रहे हैं, ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके नहीं अपितु
 तमन अधिक २ ब्रह्मचर्य व्रत का नाश करने के लिये
 ॥ मृषि दयानन्द यदि कभी रसायन तन्त्रोक्त भेषज
 म ॥ का सेवन करते थे तो यह जानकर कामी जन हंस
 श्रुते हैं कि ब्रह्मचारी दयानन्द को रसायन सेवन

है, क्योंकि रोग की जड़ केवल शरीर में नहीं अपितु मनमें है। चरकाचार्य व्याधियों का आश्रय शरीर और मन दोनों को बतलाते हैं। यथा—:

शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधी नामाप्रयोमतः ।

प्रत्येक जीव व्याधियों की निवृत्ति के लिये यत्न कर रहा है, क्योंकि व्याधियों के कारण दुःख अनुभव होता है और प्रत्येक प्राणी में दुःख से छूटने की और सुख प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा है, जो प्राणी दुःखोत्पादक साधन में लगे हुए हैं वे भी चाहते सुख ही हैं परन्तु अज्ञान से दुःख प्राप्ति के साधनों को सुख प्राप्ति का साधन समझ कर उन साधनों में लगे हुए हैं, इसी कारण सुख की अभिलाषा करते हुए भी दुःख भोग रहे हैं शरीर और इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वतन्त्र नहीं है उनके ही आधीन है। शरीर और इन्द्रियों की प्रवृ-

त्ति को ठीक रखने के लिये मनोवृत्ति को ठीक
 ना उचित है। शरीर इन्द्री और मन का सम
 उस सवारी के साथ अच्छा जचता है जि
 सवारी का मालिक अपनी इच्छा के अनुसार
 हांकने वाले सारथी को आज्ञा देता है और
 सारथी उसकी आज्ञानुसार लगाम कस कर
 को काबू में रखता हुआ गाड़ी को ठीक रास्ते में
 चलाता है और बिना कष्ट के गाड़ी के मालिक
 को उसकी मंजिल पर पहुँचा देता है। इस
 रथ में इन्द्रियाँ रूपी घोड़े लगे हुए हैं बुद्धि सा
 ने मन की लगाम कस कर घोड़ों को काबू
 हुआ है। मालिक आत्मा की आज्ञा के अ
 बुद्धि, इन्द्रिय घोड़ों को हाँकता और शरीर
 गाड़ी को विषयों की सड़क पर ले जा रहा है
 मंजिलों के समान गुण आत्मा को लक्ष्य पर पहुँचा

ठीक अपने उद्देश्य को सफल करता है। उपनिषद् में
सम कहा है—

आत्मानं रार्थिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धितु सारार्थिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानां दुर्विषयां स्तेषु गोचरान् ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि घोड़े और गाड़ी

में यदि कोई नुकस उनकी बनावट व उनके कार्य

में हो तो किसी पशु चिकित्सक व मित्रों को मिला

कर उनका दोष दूर किया जाता है। यदि घोड़ों

को काबू करने वाली लगाम को रस्सियां कच्ची

हों-ठीक खींचती नहों, इन रस्सियों के दोष के

कारण घोड़े ठक गन्ते हैं और गाड़ी बिगड़ती

जाती है। लगाम की रस्सियां सुधरने से घोड़े और गाड़ी

की चाल अवश्य भवस्थ होजायगी सुधर जायगी

इस अवस्थ में घोड़ा गाड़ी की कितनी भी मरम्मत

पहुँच

कीजिये काम नहीं चलेगा । इसके अतिरिक्त य
 सारथी की समझ ही खराब हो वह शराब पी शर
 होतो भी घोड़े और गाड़ी ठीक नहीं चलेगे उन
 सारथी के बिना इलाज किये केवल घोड़ा गा कार
 की ठोकने पीटने से कुछ न बनेगा । यदि माँके व
 के संस्कार ही खराब हों, उसका उद्देश्य ह दूर
 नहो जहाँ वह पहुँचना चाहता है वहाँ सड़क उत्प
 रही टूटी फूटी है तो उस सड़क पर उसकी गा सुसं
 टूट फूट जायगी घोड़े भी खींचते २ मृत वा उपर
 प्रायः हों जायंगे और उसका म लिक मपने प्रता
 पर न पहुँच सकेगा । दुख भोगते २ कालांतर और
 यदि उसके संस्कार प्रयत्न विशेष से बदल पयु
 तो वह अपना लक्ष्य बदल लेगा और उत्तम और
 उपार्जन करके लक्ष्य पर पहुँचाने योग्य । उ
 नामों के साथ गाड़ी में सवार होकर

लक्ष्य को सिद्ध करेगा ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद में शरीर और इन्द्रियों के रोग रोगों के कारण और उनकी चिकित्सा के साथ २ मानसिक रोग उनके कारण और उनकी चिकित्सा बुद्धि विचार (शक्ति) मांके दोष दोषों की उत्पत्ति के कारण और दोषों को दूर करके सद्रुति प्राप्ति का और कुसंस्कार उनकी उत्पत्ति का कारण और दूर करने का उपाय तथा सुसंस्कारों की प्राप्ति का भी वर्णन किया जाय । उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार यह भी इस शास्त्र में बताया चाहिये कि मनुष्य जीवन का लक्ष्य क्या है और उसलक्ष्य प्राप्ति के क्या साधन हैं । जैसे उपर्युक्त दृष्टान्त में गाड़ी का मालिक लक्ष्य की ओर चलते २ घोड़ा गाड़ी वा उस के उपकरण के छ होजाने से उसके स्थान में तथा प्राप्त करने

अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता है वा अपनी उस अन्तिम अभिलाषा को पूरा करता है जिसके परो उसकी कोई अभिलाषा रह नहीं जाती इस प्रकार आत्मा एक जन्म में अपनी अभिलाषा को न पूरा करके नये शरीर को धारण करता वा पुनर्जन्म लेता है। इस प्रकार पुनर्जन्म का प्रश्न भी आयुर्वेद के साथ सम्बद्ध है। ऐसे अनेक प्रश्नों के निर्णय के लिये निर्णय करने का प्रकार प्रमाण प्रवेशादिका निरूपण भी आवश्यक है। यह ठीक है कि एक एक विषय के यथार्थ निरूपण के लिये बड़ा विस्तार चाहिये और एक एक प्रथक ग्रन्थ चाहिये परन्तु उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट है कि आयुर्वेद का अध्यात्म वा दार्शनिक तत्व से गहरा सम्बन्ध है और बिना इस दार्शनिक तत्व के निरूपण किये आयुर्वेद ग्रन्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

(२३)

उस पर प्रकार पूरा लेता द के लिए रूपण विषय गहिये प्रयुक्त ध्यात्म विना र ग्रन्थ विषयों के आवश्यक अंशों के संग्रह को दिखानेवाले किसी आयुर्वेद ग्रन्थ में दार्शनिक तत्व का भी आवश्यक अंश । अवश्य समाविष्ट होना चाहिये । इतनाही नहीं कि तु ऋतुओं के परिवर्तन से मनुष्य के स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है और इस काल प्रभाव में किस प्रकार स्वास्थ्य ठीक रखवा जा सकता है इस के लिये काल निरूपण काल प्रभाव और स्वास्थ्य रक्षा के उपायों का वर्णन भी आयुर्वेद में होना स्वाभाविक है । प्रत्यक्ष विषय के निरूपण की उतनी आवश्यकता नहीं हुआ करती जितनी अप्रत्यक्ष विषय के निरूपण की होती है तो भी कालनिरूपण पर भी चरकादि प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थों में पर्याप्त प्रकाश डाला है । इस प्रकार मालूम हुआ कि आयुर्वेद का दार्शनिक तत्वसे गहरा संबंध है और आयुर्वेद में दार्शनिक तत्व का समावेश अत्यन्त सङ्गत है । *

वात पित्त श्लेष्मा का दार्शनिक तत्व से सम्बन्ध

वात पित्त श्लेष्मा जब अपनी उचित मात्रा में नहीं रहते तब इन को त्रिदोष कहते हैं। तब ये दुष्ट या विकृत हुए शरीरकी धातुओं के कार्य और उनकी रचनाको विकृत कर देते हैं। दोषों की विषमता के कारण विकृत हुई धातुओं से शरीर में रोग का आविर्भाव होता है। दोषों की समता के कारण सम हुई धातुओं से शरीर में नीरोगता का आविर्भाव होता है। जब त्रिदोष सम होते हैं तो देह के उपचय का हेतु है और जब विषम होते हैं तो अपचय का हेतु होते हैं। उपचय से वृद्धि और अपचय से क्षय वानाश होता है। जरा और मृत्यु शरीर की धातुओं के अपचय के द्योतक हैं। धातुओं का अपचय त्रिदोष की विषमता को सूचित करता है। अतः त्रिदोष की विषमता से ही जरा और मृत्यु का आगमन होता है। त्रिदोष की समता रहने से जरा का अपचय

(२५)

और दीर्घ जीवन की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। जब वात पित्त श्लेष्मा सम अवस्था में होते हैं तब इन का नाम त्रिदोष नहीं होता तब इन्हें त्रिधातु कहते हैं। ये त्रिधातु देह के उपचय का सूचक हैं। शरीर को स्वस्थ रखना और रोग निवृत्त करना इसका अर्थ केवल इतना ही है कि शरीर में वात पित्त श्लेष्मा को सम रखना शरीर में वात पित्त श्लेष्मा को सम रखने से देह की वृद्धि होती है। शरीर में जो भी अन्न पान डाला जाता है और शरीर से व्यायाम भ्रमणादि के द्वारा शरीर की क्रियाओं को ठीक रखने के लिये जो विहार किया जाता है वह शरीर की किसी कमी को पूरा करने के लिये किया जाता है। यदि अन्न पान ग्रहण न किया जाय और अन्न पान को जीर्ण करने के लिये तथा शरीर में यथा स्थान पहुंचाने के लिये विहार का भी सर्वथा परिहार न किया जाय तो शरीर यथा वस्थित नहीं

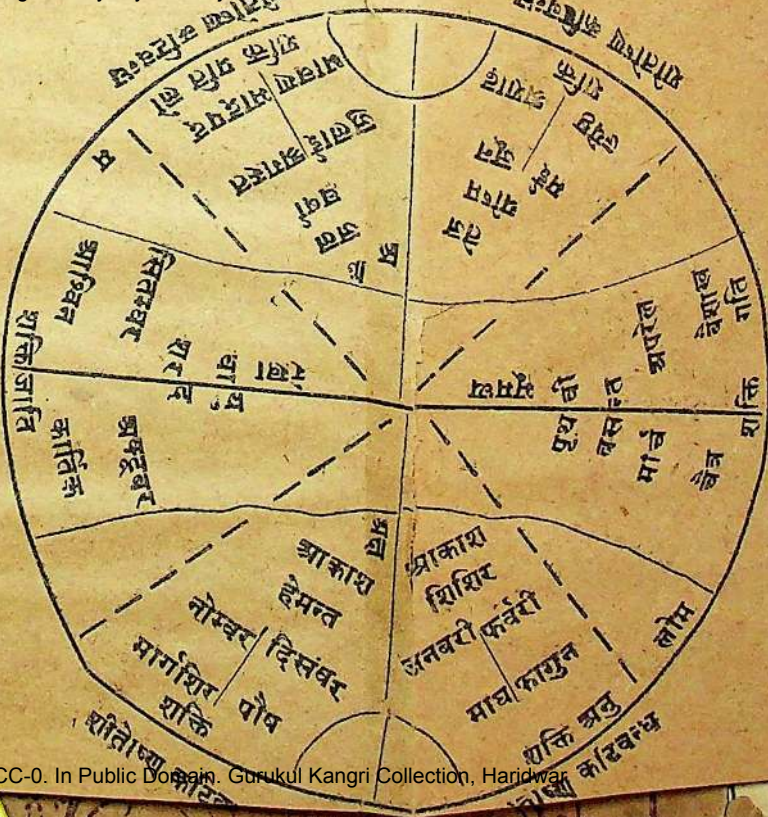
(२६)

रहता क्षीण होने लगता है । इससे प्रकट है कि शरीर में स्वभाव से अर्थात् सृष्टि नियम से हास हो रहा है । उस हास को पूरा करने के लिए अन्नपान का ग्रहण करना आवश्यक होता है । यह अन्नपान एक ही रूप में और एक ही मात्रा में प्रत्येक के लिये हित कर नहीं होता क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का शरीर उसके अपने प्राक जन्म के कर्मा से भिन्न है और भिन्न प्रकार की अनुकूलता रखता है । (Mateorology) कालशास्त्र और ज्योतिःशास्त्र के नियमों से काल चक्र छः ऋतुओं में विभक्त है । ये छः ऋतुएं परस्पर सर्वथा विभिन्न प्रजापति (सम्बत्सरो वै प्रजापतिः) के विभिन्न रूपों को प्रकट करती हैं । प्रजापति के विभिन्न रूपों के प्रदर्शक छः ऋतुओं में वर्तमान भौतिक द्रव्य हैं । ये भौतिक द्रव्य जिस २ ऋतु में उत्पन्न होते हैं और जिस २ ऋतु में आपत्ती स्थिति रखते हैं उस २ ऋतु में उस २

कि ॥ ऋतु के गुणों को धारण करते हैं । ऋतुओं का
 हास द्रव्यों पर प्रभाव स्वभाविक है क्योंकि ऋतु सूर्यके
 गिरा पृथ्वी के घूमने से स्वाभाविक गति पर प्रकट
 हो रही हैं । इस सम्बत्सर प्रजापति के शरीरमें चय
 और क्षयका चक्र वर्तमान है। चूंकि सृष्टिका प्रत्येक
 का भौतिक द्रव्य प्रजापति के शरीरमें विद्यमान है। और
 उसका अंश है इसलिये सृष्टिके प्रत्येक भौतिक द्रव्य
 में चय और क्षयका चक्र स्वभाविक है। भौतिक द्रव्यों
 में परिवर्तन, बिना पृथिव्यादिभूतों में परिवर्तन हुए,
 नहीं हो सकता अतः यह मानना ठीक है कि ऋतु
 परिवर्तनही भौतिक परिवर्तनका भी आधार है। ऋतु
 परिवर्तन और भौतिक परिवर्तनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है।
 -००- घसन्त ऋतु में शक्ति पूर्ण रूप से विकासो-
 मुख होती है । रसउद्भिजों के अन्दर भरजाते हैं
 , परन्तु प्रकट रूपमें नहीं होते फिर शीघ्र में शक्ति-
 अधिक प्रकट में होती है और अगले प्रकट रूप में आने

हैं। इनके वाद प्रतिक्रिया होने से अर्थात् शक्ति के आगे पीछे गति करते हुए चलने से वर्षा ऋतु में उस प्रकट हुए रस से ही उसको गतिके रुकने से रस अनेक रूप में बड़ी मात्रा में प्रकट होने हैं। वि- कास सिद्धान्तके अनुसार शक्तिका हास और द्रव्य मात्रा का संघटन होता जाता है। शरद ऋतु में वह रस अपनी पक्वावस्था को पहुँचता है। पश्चात् हे- मन्त ऋ, में प्रसुप्त सत्ता फिर अन्दर से जागृत हो- ने लगती है और द्रव्य का संघटन दूरने लग ता है। शिशिर ऋतु में शक्ति बढ़ती र सारे द्रव्यको अ- त- त करती है और उसके अन्तर्हित होते र स्वयं भी शांति होजानी है इसका फल यह होता है कि वसन्त ऋतु में पूरा होकर विकासोन्मुख होजाती है इस प्रकार यह सम्बत्सर चक्र सदा वर्तमान रहता है इस चक्र में वसन्त पृथिवी रूप है घीष्म तेज रूप वर्षा जलरूप शरदः शुष्क रूप हेमन्त शीत रूप

दक्षिणायन काल



उत्तरायन काल



(विकास की अन्तिम अवस्था] और शिशिर भी आकाश रूप (विकाश की आदिम अवस्था) है।

शिशिर वसंत ग्रीष्म इन में शक्ति की अनुलोम गति होती है अतः यह उत्तरायण काल है और वर्षा शरद, हेमन्त इन में शक्तिकी प्रतिलोम गति होती है अतः यह दक्षिणायन काल है। पहलीतीन ऋतुओं में द्रव्य का विकास है और दूसरीतीन में अन्तर्लय है

भौतिक द्रव्य हमारे शरीर में प्रविष्ट हुए काल के अनुसार शरीर में उस परिवर्तन को उत्पन्न करते हैं जो ऋतु चक्र में हो रहा है। ऋतु चक्र में चढ़ा हुआ हमारा शरीर ऋतु चक्र के परिवर्तन को साक्षात् भी ग्रहण करता है। शरीर में साक्षात् और परम्परया होने वाले परिवर्तन शरीर और द्रव्यों की प्रकृति भेद से शरीर में समान सुख दुःख उत्पन्न नहीं करते।

भूत हैं। ऋतुओं में परिवर्तन पञ्चभौतिक हैं। अतएव सुखकर और दुःखकर अवस्था का स्वस्थता और रोग का निदान पञ्च भौतिक परिवर्तन में ही दृढ़ता होता है और व्याधि चिकित्सा के लिये उपयुक्त पञ्चभौतिक परिवर्तन युक्त द्रव्य का आश्रय लेना पड़ता है अथवा ऐसे अनेक द्रव्यों की योजना की जाती है जिनका फल उपयुक्त पञ्च भौतिक परिवर्तन होता है। इससे स्पष्ट है निदान चिकित्सा और द्रव्य गुण विज्ञान का आधार पञ्चभौतिक विज्ञान है। ये पञ्चभूत आकाश वायु तेज जन और पृथ्वी हैं। इनमें वायु के पूर्ण सूदन अवस्था आकाश है और जल के पश्चान्धन अवस्था पृथ्वी की है आकाश आकाश पृथ्वी का अर्थात् द्रव्यों को अति सूदन और अति स्थूल अवस्था का विचार वायु और जल के साथ ही करते यदि पञ्चभूतों को तीन में विभाग किया

जाय तो वायु तेज और जल विभाग होगा ।
पदार्थ विद्या का सिद्धांत है —

द्रव्य अपनी स्थूल अवस्था से सूक्ष्म अवस्था में आते हुए अपने में अधिक ताप को उत्पन्न करते हैं, और सूक्ष्म अवस्था से स्थूल अवस्था में जाते हुए अधिक ताप छोड़ते हैं । इससे स्पष्ट है कि जो द्रव्य पञ्चभौतिक क्रम में जितना स्थूल है उसमें तेज उतना ही कम है और जो द्रव्य पञ्चभौतिक क्रम में जितना सूक्ष्म है उसमें तेज उतना ही अधिक है । यह सिद्धांत सिद्ध हो सकता है यदि पतित जल की तुल्य राशि (Distille water या पञ्चभौतिक रङ्गों की मिश्र भिन्न बोतलों में नियत समय तक सूर्य ताप से तप्त किया जायतो पिलानेसे काले रङ्ग की बोतल का जल सब जलों से अधिक कफ को द्रुत करेगा,

यह तो स्पष्ट है कि वायु, गति कर्मा है, तेज दीपक है और जल शीतल है। आकाश और वायु के द्रावक वा गति कर्मक धर्म को लक्ष्य में रखकर कि दोनों का निर्देशवातशब्द से किया है और जलपृथ्वी के शीतल कर्मक और सांघातिक धर्म को ध्यान में रखकर श्लेष्मा शब्द से निर्देश किया है। तेज का धर्म दीपन व प्रकाशन है। यह वायु और जल की अवस्थाओं का मध्यमवर्ती पदार्थ है। इसमें गति का अवरोध होने से ताप और प्रकाशन का प्रादुर्भाव होता है। तेज के तपन और दीपन धर्म को लेकर पित्त शब्द दिया है।

इस प्रकार वात पित्त और श्लेष्मा गति ताप और संग्रात के द्योतक हैं, शरीर और भौतिक द्रव्यों में निदान और चिकित्सा के निमित्त पंचभूतों को ही निर्देश करते हुए स्वीकार किये गये हैं।

(३३)

वात, पित्त, क्लृप्ता के गुणों पर दार्शनिक विचार
 त के गुण चरक मुनि ने "रुतः"
 शीतो लघुः सूक्ष्मश्च लोऽथ विशदः
 स्वरः " इस प्रकार लिखे हैं ।
 "वायुः गति कर्मा" प्रवर्तकश्चेष्टा
 नाम्" वायुका काम गति करना
 है यह चेष्टाओं का प्रवर्तक है ।



शरीर में जहां २ चेष्टा होती हैं वहाँ २ तंतुओं
 (Tissues) में संकोच (Contraction) होता है
 तंतुओं में बिना संकोच हुए गति नहीं हो सकती
 शरीर में अनेक चेष्टायें हो रही हैं । यथा—श्वास
 लेना छोड़ना, हृदय का धड़कना, रक्तवाहिनियों
 (धमनि और शिरा) में रुधिर घूमना, अन्न का
 पचन, मल त्याग, ग्रंथियों (Glands) से
 उपयुक्त रसों (Fluids) का अंतः वहिः साव

आत्स्वन्तर में परिवर्तन, इंद्रियों के विषयों का
 ग्रहण, मन का इंद्रियविशेष से लगना और हटना,
 विषय का चिंतन इत्यादि। ये सब कर्म वात के
 द्वारा तंतुओं में संकोच उत्पन्न से होते हैं। शीतकाल
 में वा शीत वस्तु के स्पर्श से तंतुओं में संकोच
 उत्पन्न होता है अथवा वात का कर्म आरम्भ हो जाता
 है। जब संकोच तंतुओं में संकोच को हीन मात्रा
 को पूरा करके उचित मात्रा में कर देता है तब तो
 आनन्द होता है, और जब उचित मात्रा से अधिक
 काल तक और अधिक परिमाण तक संकोच रहता
 है तो वायु की वृद्धि कही जाती है और जब अति
 मात्रा में हुआ संकोच शरीर वा मानस विकारों को
 उत्पन्न करने लगता है तब वात कुपित कहा जाता
 है। कुपित हुआ वात आनन्द के स्थान में दुःख
 उत्पन्न करता है। संकोच के कारण श्लेष्मिक और

वह द्रव तंतुओं की सड़ोच परम्परा से स्थानांतर
में चला जाता है। यदि आवश्यकता के अनुकूल
उनद्रव्यों का प्रक्षेप हुआ है। तो वे द्रव शरीर में
लग जाते हैं और यदि बिना आवश्यकता के उनका
प्रक्षेप हुआ है तो वे द्रव अपना २ विकार उत्पन्न
करते हैं। इसप्रकार ठीक कहा है कि पित्त और
श्लेष्मा स्वयं कहीं शरीर में नहीं जा सकते वायु
उनको मेघ के समान इधर उधर लेजाता है और वे
उस २ स्थान में मेघ के समान जाते और अपना
काम करते हैं। कहा है—

पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवोमलधातवः ।

वायुनां यत्र नीयंते तत्र गर्जन्ति गच्छन्ति मेघवत्
जो पदार्थ वायु और आकाश तत्त्व प्रधान
हैं वे त्रिप्राक कालमें अधिक शक्ति का प्रकाश करते
हैं या स्वभा के मार्गसे यदि उन्हें ज्वल किया जाय

(३६)

परिवर्तित होते हुए अपने घटक द्रव्यों से भिन्न २ प्रकार के समास बनाते हुए विशेष शक्ति उत्पन्न करते हैं। इस शक्ति से जमी हुई श्लेष्मा पिघल जाती है, अवरुद्ध हुए स्रोत खुल जाते हैं।

तैजस और जल तत्त्व प्रधान द्रव्य परिणामांतर को प्राप्त हुए उतना शक्ति का प्रकाश नहीं कर सकते क्योंकि उनका जन्म स्वभाव ही ऐसा है और इसी विचार से श्लेष्मात्पादक द्रव्य शक्ति संचार के स्थान में स्थिरता और मंदता को लाने वाले होने चाहिए, क्योंकि उनमें जल और पृथ्वी तत्त्व प्रधान होते हैं। अतः श्लेष्मा के विलयन के लिये शिथिल अङ्गों को किया शील (Active) अवस्था में लाने के लिये वायु तत्त्व प्रधान द्रव्य मिलाने उपयोगी हैं उनसे कम तैजस् हैं और जल तथा पार्थिव तत्त्व प्रधान द्रव्य उपयोगी नहीं हैं वा

ग्रहण नहीं किये जा सकते । इसीलिये वास तथा
 श्वास में श्लेष्मा के द्रावण के लिये और क्षय में
 फुफफुस को बल देने के लिये भी वासा का विशेष
 उपयोग है । वासा आकाश और वायु तत्व प्रधान
 द्रव्य है । कर्पूर श्वास रोग में श्लेष्मा के द्रावण
 के लिए उपयोगी है । कर्पूर द्रव्य आकाश तथा
 वायु प्रधान है ।

वात प्रधान द्रव्य शीत कहते हैं । वात की
 शीतता में और जलकी शीतता में भेद है । दाश-
 निकों ने जल को शीत, तेज को उष्ण और वायुको
 योगवाहि माना है । जल के साथ मिलने से शीत
 और तेज के साथ मिलने से उष्णस्पर्श वात्मा
 होता है । कहा है—

“अनुष्ण शीत स्पर्शवान् वायुः

आयुर्वेद की परिभाषा में यं कह सकते हैं

साथ युक्त होकर उष्ण होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है वायु के गुण वर्णन करते हुए वायु का गुण शीत बताया है। ऐसा लिखना अवैज्ञानिक या दार्शनिक विचार से शून्य नहीं है। दर्शन का “अनुष्णाशीत स्पर्शवान् वायुः” लिखना और आयुर्वेद का “शीत गुणवान् वायुः” लिखना परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। वायु तंतुओं (Tissues) में सङ्कोच (Contraction) द्वारा गति उत्पन्न करता है। यदि यह सङ्कोच उचित काल और उचित मात्रा से अधिक काल और अधिक मात्रा में बढ़ जावे तो श्लेष्मिक और पैक्षिक ग्रन्थियों से स्त्राव होना बन्द हो जायेगा। पैक्षिक ग्रन्थियों से स्त्राव बन्द हो जाने से पित्त श्लेष्मा का पाक करके शरीर में जो उष्णता उत्पन्न करता था वह न होने से शरीर में शून्य अनुभव होगा। इस शैत्य का अनु-

कारण पित्त के कार्यका शांत होजाना है । जिस प्रकार जल अपनी युक्ति से अग्नि को शांत करके शैत्य का अनुभव करता है इसी प्रकार वायु भी अपनी युक्ति से अग्नि को शांत करके शैत्य का अनुभव कराता है । इस प्रकार के प्रभाव को देख कर ही आयुर्वेद में वायु को शीत गुण वाला कहा है, वस्तुतः वायु स्वयं जल के समान शीत और तेज के समान उष्ण नहीं है । जहां वायु अपने कर्म में अति करने से शीत प्रभाव को उत्पन्न करती है, वहां उसके प्रभाव को दूर करने के लिए उष्णोपचार से ऊष्मा पहुंचा कर संकोच के विरुद्ध तन्तुओं में प्रसार उत्पन्न किया जाता है इस ऊष्मा से जब संकोच अपनी उचित मात्रा में होजाता है तो तंतु अपना उचित कार्य करने लगते हैं । घात के प्रभाव से जैसे पिरा पथियों के अति संकोच से शैत्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार

श्लेष्म पंथियों के अति सङ्कोच से श्लेष्म खाव
 बन्द होजाने के कारण रुद्धता उत्पन्न होती है ।
 इसी कारण वायु को रुद्ध कहा है । अङ्गों में रुद्ध
 को उत्पन्न करने वाला श्लेष्म है । क्योंकि
 श्लेष्मिक द्रव्य जल पृथिवी तल प्रधान होने से
 आद्रिता सम्पाद कहें अतः श्लेष्मा के कार्य के रुक
 जाने से स्निग्धता नहीं रहेगी रुस्त्रेपन के साथ
 कठोरता वा खरता आजावेगी । वायु खरता ला
 सम्पादक है अतः वायु को खर कहा है । अवयवों
 को जोड़ना मिलाना पृथिवी तत्व का कार्य है
 अतएव जल पृथिवी तत्व प्रधान श्लेष्मिक द्रव्य
 का कार्य रुक जाने से अवयवों का संघटन नहीं
 रह सकता, उन में विशदता आजायगी । यह
 विशद गुण आकाश तत्व का है जो पदार्थ आकाश
 और वायु तत्व प्रधान होगा उस में विशद करने
 का गुण भी अवश्य होगा । इस विशदता के सम्बन्ध

वन करने से शरीर शैथिलिक द्रव्य के द्वारा होने वाला पृथिवी तत्व का प्रभाव (स्थूलता) दूर हो कर शरीर में सूक्ष्मता आजायगी और सूक्ष्मता होने से शरीर में लघुता (हलकापन) प्रकट होगा इस प्रकार बात के प्रभावों को देखकर स्पष्ट है कि आकाश वायु तत्व प्रधान द्रव्य जिन्हें वातिक द्रव्य कहते हैं अवश्य ही रुज, शीत, लघु, सूक्ष्म, अल, विषद और खर गुण वाला होना चाहिये।

पित्त का लक्षण इस प्रकार किया है:—

पित्तं सस्नेह तीक्ष्णं लघु विस्फुरं द्रवम् ।

विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रणाम्यति ॥

पित्त उष्ण है तेज व अग्नि तत्व प्रधान है ताप और प्रकाश व चमक उत्पन्न करता है तेजस तत्व का कर्म (Espaceion) फैलाना है। पृथिवी तत्व के (Epaersion) विस्तार में और तेजस तत्व के विस्तार में भेद है। तेजस्तत्व

(Volume) आयतन को बढ़ाता है और पृथिवी तत्व (Mass) द्रव्य राशि में अधिक २ द्रव्य राशि को संबद्ध कर के द्रव्य राशि को बढ़ाता है । तेजस्तत्व से द्रव्य के अवयवों में विरलता आती है और पृथिवी तत्व से द्रव्य के अवयवों में घनता आती है ! इसी लिये तेजस्तत्व प्रधान पैत्तिक द्रव्य का प्रभाव पृथिवी तत्व प्रधान श्लैष्मिक द्रव्य के प्रभाव से विभिन्न और विपरीत पड़ता है ।

पदार्थ विद्या का सिद्धान्त है कि यदि द्रव्यों का दबाव (Pressue) और आयतन (Volume) स्थिर रक्खा जाय तो द्रव्य को ताप देने से उस की घनता (Density) कम हो जाती है अर्थात् द्रव्य विरल हो जाता है । इस विरलता के कारण द्रव्य लघु हो जाता है । तेजस्तत्व घन व द्रव द्रव्यों को अवयवों को फैलाने का प्रभाव रखता है । द्रव्यों के अवयवों की सम्बद्धता

धित्री
 राशि
 तेज-
 ो है
 प्रनता
 द्रव्य
 व्य के
 यदि
 यतन
 को
 म हो
 । इस
 तेज-
 कैला
 बद्धता

दूट जाती है । इस सम्बद्धता को काटने से ही
 तेजस्तत्व का द्योतक पित्त द्रव्य तीक्ष्ण है । जब
 वात श्लैष्मिक ग्रन्थियों को अति मात्रा में संकु-
 चित कर के श्लैष्मिक स्राव को रोक देती है तब
 पित्त श्लैष्मिक ग्रन्थियों के प्रसार से संकोच को
 उचित मात्रा में लाकर श्लैष्मिक स्राव को प्रवृत्त
 कराता है । इस प्रकार वायुजन्य रुद्धता पित्तजः स-
 स्नेह से शान्त होती है । अतः पित्त का स्नेह गुण
 कहा गया है । यद्यत् ग्रन्थियों में स्थित पित्त द्रव्य
 तेजस्तत्व प्रधान है । आंतों में श्लैष्मिक ग्रन्थियों से
 स्राव उत्पन्न करके मल को बाहिर निकालता है
 इसी लिये सर है, तथा वहां की वात नाड़ियों में
 चंचलता उत्पन्न कर के आंतों की गति को ठीक र-
 खता है । पित्त द्रव्य दुर्गन्धित होने से घिस है
 और बहने वाला होने से द्रव है ।

हैं परन्तु दोनों के प्रधान तत्त्वों के भेद से इन की गतिओं में भी उसी प्रकार भेद हैं। वात सङ्कोच करती है और पित्त प्रसार करता है और उसी कारण वात शीत है और पित्त उष्ण है, वात रुधिर गुण है और पित्त स्नेह गुण है; इसी कारण लक्षणों को पहिचान कर वात के बहुत से लक्षणों का प्रतीकार पैत्तिक द्रव्य से और पित्त के बहुत से लक्षणों का प्रतीकार वातिक द्रव्य से हो जाता है।

अरकाचार्य ने पित्त के गुण लिखते हुए लघु और विस्त्र गुण नहीं लिखे अम्ल और कटु लिखे हैं। अम्ल और कटु रस के छः भेदों में से दो भेद हैं। अम्ल रस और कटु रस दोनों रस नेन्द्रिय पर लगते ही दाह उत्पन्न करते हैं उसे काटने से आँख, नाक, मुख से स्राव उत्पन्न करते हैं। इस कारण इन में तेजस्तत्व प्रधान होने से यह शरीर में पित्त प्रवृत्ति बढ़ जाती है। पित्त की अधिकता से

युक्त द्रव्य का एक अम्ल व कटु होता है।

श्लेष्माका लक्षण चरक मुनिने इस प्रकार किया है—

गुरु शीत मृदुस्निग्धमधुरद्विधरपिच्छलाः ।

श्लेष्मण प्रशमं याजि विपरीत गुणैर्गुणः ॥

श्लेष्मा जल तत्त्व और पृथिवी तत्त्व प्रधान द्रव्य है। श्लेष्मा में इन्हीं के गुणों की प्रधानता होनी चाहिये। श्लेष्मा के कार्य इन तत्वों के कार्य हैं। उन कार्यों के अनुसार श्लेष्मा के गुणों का कथन है। उत्पादन कारण के गुण कार्य में उपस्थित होने हैं इस लिये कार्य और कारण में गुण पूर्वक सम्बन्ध देखा जाता है। इसी प्रकार जल और पृथिवी तत्वों और श्लेष्मा में सम्बन्ध सीखता है। जल तत्व शीत होने से श्लेष्मा शीत है। पृथिवी गुरु है क्योंकि शक्ति (Energy) के नष्ट (Dissipate) होने से द्रव्य के अवयव जो पड़ि

जाते हैं। अतएव वह पदार्थ जिस में उस
 अवस्था पूर्वकी अपेक्षा अधिक संश्लिष्ट हो जा
 गुरु हो जाता है। इसी लिये श्लेष्मा भी गुरु है
 श्लेष्मिक द्रव्य रूपांतर होने में शारीरिक शक्ति
 अधिक व्यय करते हैं इसी लिये शरीर में शीतता
 स्थिरता और श्यौल्य उत्पन्न करते हैं। जल और
 पृथिवी तत्व में स्नेह गुण होनेसे श्लेष्मा भी शरीर
 में स्नेह को उत्पन्न करता है। जल के कारण
 श्लेष्मा शरीर में मृदुता उत्पन्न करता है। जल
 श्लेष्मा शरीर में बढ़ जाता है तब वायु के सङ्कोच
 के कार्य को जीत लेता है और श्लेष्मिक अन्धियारा
 या तो फूट जाती है या वायु की सहायता से अ
 चित तौर पर श्लेष्मा का स्राव करने लगती है।
 शरीर में अनुपयुक्त अतिरिक्त श्लेष्मा धातु रूप
 में रूप हुआ २ वायु की सहायता से गमदा

पृथिवी तत्त्वों का रस मधुर होने से श्लेष्मा भी मधुर समझना चाहिये ।

वात पित्त और श्लेष्मा के उपर्युक्त विचार को ध्यान में रख कर इनके सन्बन्ध में कई अन्य विचार प्रकट होते हैं सृष्टि का कोई भौतिक द्रव्य शुद्ध वात, पित्त और श्लेष्मा के रूप में नहीं है । किसी में इनमें से एक की और किसी में अनेक कारण की प्रधानता है । अज्ञान के कारण वा संयम न होने से किसी एक प्रकार के आहार विहार का अति सेवन करने से शरीरों में विषमता और रोग उत्पन्न होते रहते हैं । इस लिये शरीर को स्वस्थ रखने के लिये काल के अनुसार नानाविधि द्रव्यों से संतुष्ट पथ्य और भोजन का सेवन किया जाता है । पित्त द्रव्य के घटक वात और श्लेष्मा से संयुक्त हैं । यह द्रव्य अतिशीत के कारण आंतों में संकोच

(४८)

श्लेष्मा की अपरि पकावस्था से वा पित्त का
 विदाह से आध्मान भी पैदा कर देगा। ऐसे पदार्थ
 के साथ अन्य कोई ऐसा पदार्थ खाना उचित
 होगा जो ऊष्मा के कारण आंतों के अति संकोच
 को न होने दे और आंतों की गति को उचित रखे।
 हुए आंतों में उत्पन्न दुर्गन्धित वायु (Flatus)
 को बाहर निकालने में सहायता दे। इसी प्रकार
 वात पित्त प्रधान द्रव्य रुद्धता और उष्णता उत्पन्न
 करेगा, इस के कार्य को उचित मात्रा में रखने के
 लिए श्लेष्मिक द्रव्य से इसे जीतना पड़ेगा क्योंकि
 श्लेष्मा स्निग्ध तथा शीत है, वात और पित्त दोनों
 को शांत रखने वाला है। इसी प्रकार वात,
 श्लेष्मा के परस्पर सम्बन्धों का विचार करके
 भोज्य को पच्य और भेषज की कल्पना करनी
 होती है।

बात पित्त श्लेष्मा के चय कोप और चय का ऋतु सम्बन्धी विचार



हि में वर्तमान ऋतु चक्र का बात पित्त श्लेष्मा पर स्वाभाविक प्रभाव होता रहता है। इससे शरीरों की और द्रव्यों की अवस्था बदलती रहती है। यह परिवर्तन निम्न कोष्ठक से स्पष्ट है:—

काल चक्र						
उत्तरायण काल			दक्षिणायन काल			
	शिशिर	वसंत	ग्रीष्म	वर्षा	शरद	हेमन्त
चय			वात	पित्त		श्लेष्मा
कोप		श्ले०		बात	पित्त	
तय	पित्त		श्ले०			वात

इस कौष्ठक से स्पष्ट है कि ग्रीष्मऋतु में जब कि आदित्य की किरणें अतितीव्र होती हैं, भूमि पर जल शुष्क होजाते हैं, पदार्थ ताप को अपने में जड़ कर लेने लगते हैं, तब शरीरों और द्रव्यों में श्लेष्मा का क्षय और वात की वृद्धि होने लगती है। श्लेष्मा के क्षय से स्थूलता और बल का नाश तथा निर्गलता और हृशता का प्रादुर्भाव होता है। यह वात शरीरों में शीतता और रुद्धता का प्रभाव नहीं दिखा सकता, क्योंकि आदित्य का प्रबल तेज उसके संकोचक प्रभाव को रोककर शरीर के अवयवों में प्रसार उत्पन्न करके श्लेष्मा को अत्यन्त द्रुत और स्रवित करता है जिससे शरीरों में स्निग्धता बनी रहती है परंतु स्नेह के अत्यंत व्यय से और ताप के अति प्रयोग से शरीर लघु दुर्गल और क्षय होजाते हैं तथा वात संचित होने लगता है।

स्थिति में रहती है। इस समय लघु शीत और स्निग्ध द्रव्यों का सेवन हित है।

वर्षाकाल के आते ही, जबकि सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं, सूर्य का ताप क्षीण होजाता है, वातावरण जलसे परिपूर्ण हुआ जल छोड़ने लगता है, शरीरों पर दबाव कम होजाने से तथा शीत से संकोचन क्रिया आरम्भ होजाती है, साव बन्द होजाते हैं, शरीर में वायु का वेग ऊर्ध्व होजाता है ग्रीष्मऋतु के प्रभाव से बात हृष पदार्थों का उपभोग प्रारम्भ होजाता है, तब शरीर में कुपित हुई बात अपना प्रभाव दिखाने लगती है। मलस्तम्भ, आघमल और अग्निमान्द्य की शिकायत सुनाई देने लगती है। शरीर में उत्पन्न हुआ पित्त वाह्य और आभ्यांतर शीत के प्रभाव से सञ्चित हुआ सुप्त पड़ा रहता है। इस अवस्था में बात को जीतने के लिये

तद्युः उष्ण दिनगन्ध द्रव्यों का सेवन हितकर है।
उष्ण वस्ति (Enema) से भी वात को जीतना
चाहिए ।

जब वर्षा काल बीत जाता है, सूर्य्यताप से
बाह्य शीत के निवृत्त होजाने से और उष्ण पदार्थों
के सेवन से वात का प्रभाव मन्द होचुक्ता है,
सद्युः पदार्थों के सेवन से शरीर पुष्ट नहीं हुए होते
तब स्वभावतः पित्त का प्रकोप आरम्भ हो जाता
है। इस पित्त को शांत करने के लिए सृष्टि की
ओर से वात और श्लेष्मा का संचय नहीं होरहा
होता। पित्त प्रकुपित होकर मलों को अच्छी तरह
बाहर निकालने का कार्य करता है। बुद्धिमान को
उचित है कि इस समय विरेचन से पित्त के कार्य
की सहायता करें जिससे शरीर स्वच्छ होजावे।
अति भोजन वा गुरु भोजन करके पित्त को खपाने
का यत्न न करे। इस प्रकार पित्त शांत न होगा

प्रत्युत वृद्ध और कुपित होकर विदाह, अतिसार, पांडु, कामला, रक्तपित्त आदि अनेक व्याधियाँ उत्पन्न करेगा। इस समय लघु, शीत सर और स्निग्ध द्रव्यों का सेवन करे।

इस प्रकार पित्त के शांत होजाने से शरीर में बात पित्त श्लेष्मा उचित मात्रा में होजाते हैं, भूख अच्छी लगती है, शरीर स्वस्थ और नीरोग अनुभव होने लगता है। सूर्य की किरणों अति मन्द हो जाती है। शीत अधिक अनुभव होने लगता है। सूर्य के प्रभाव से श्लेष्मा का द्रव होना बन्द हो जाता है। इस प्रकार हेमन्त ऋतु में श्लेष्मा का संचय होने लगता है। शरीर तथा भेषज-द्रव्य गुरु और बलवान् होजाते हैं। श्लेष्मा की बुद्धि से बात के अभ्यांतर विकार तो शांत होजाते हैं। परन्तु शीत के प्रभाव से खचा शुष्क होने लगती है।

(५४)

हेमन्त ऋतु के अनन्तर शिशिर ऋतु आती है। हेमन्त और शिशिर ऋतु में सूर्य का प्रवेश एक ही होता है अन्तर केवल इतना है कि हेमन्त में शीत बढ़ रहा होता है क्योंकि सूर्य दक्षिणायन की हद पर पहुँच रहा होता है और शिशिर ऋतु में दक्षिणायन की सीमा पर पहुँच कर फिर लौटने लगता है। इन दोनों ऋतुओं के संधिकाल में शीत सबसे अधिक होता है। शिशिर ऋतु में शरीर और वृक्षों की त्वचा अत्यन्त शुष्क होजाने से श्लेष्मा से आर्द्र और स्निग्ध न रहने से झड़ने लगती है, पत्ते गिरने लगते हैं, शरीर पर से बाल झड़ने लगते हैं, साँप अपनी त्वचा (काँचली) छोड़ने लगते हैं। प्रकृति देवी पुरा। वरुण (वृक्ष-आच्छादने) त्याग कर नवीन वरुण ओढ़ने की तयारी करने लगती हैं। हेमन्त ऋतु में सञ्चित

होजाने पर भी सूर्य की किरणों के मन्द होने से द्रुत नहीं हुआ होता। श्लेष्मा के शीत प्रभाव से तथा बाह्य शीत से भी पित्त के विकार शांत रहते हैं। शिशिर ऋतु के पूर्व भाग में द्रव्यों का उपचार हेमन्त ऋतु के समान हो कर सकने हैं। शिशिर ऋतु के उत्तर भाग में सूर्य की किरण श्लेष्मा को किञ्चित् द्रुत करने लगती हैं, जिससे धीरे २ श्लैष्मिक विकारों का प्रारम्भ होने लगता है, इस कारण किञ्चित् २ रुक्ष पदार्थों का सेवन प्रारम्भ कर देना चाहिए।

वसन्त ऋतु में श्लेष्मा द्रुत होकर नाना प्रकार के श्लैष्मिक विकारों को प्रगट करती है। इस समय प्रकृति की ओर से श्लेष्मा के विकारों को रोकने के लिए किसी का मंचन नहीं होता। वातिज पदार्थों के सेवन से रुक्षता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। वातिज

(५६)

पदार्थों के उपभोग करते करते वीष्मऋतु में वात संचित और श्लेष्मा क्षय होजाता है बसन्तऋतु में उचित है कि श्लेष्मा के कष्ट को निवारण करने के लिए वातज द्रव्यों से बमन करके शोधन कर लिया जाय।

इक प्रकार पता लगता है कि ऋतु चक्र हमारे शरीरों और द्रव्यों पर वात पित्त श्लेष्मा के चय कोप और क्षय से स्वभाविक प्रभाव डालता है। इस प्रभाव को जांच किए बिना स्वस्थ वृत्त का पालन और व्याधि चिकित्सा उत्तम फलप्रद नहीं होते हैं। अभीष्ट लाभ को प्राप्त करने के लिए "वात पित्त श्लेष्मा के चय कोप क्षय पर ऋतु चक्र का प्रभाव" सम्बन्धि दार्शनिक विचार करना आवश्यक होता है।

(५७)

भिन्न प्रदेशों में उत्पन्न द्रव्यों का शीतोष्ण
संबंध विचार ।

पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है । पृथ्वी
की उत्तर दक्षिण दिशा स्थिर रहती है । पृथ्वी
अपने इर्द गिर्द एक कल्पित अक्ष पर घूमती है ।
दक्षिणीय और उत्तरीय ध्रुवतारों को मिलाने
वाली रेखा पर जब पृथ्वी आती है तो उसका
अक्ष उत्तरीय और दक्षिणी । ध्रुवतारों की सीध
में होता है । पृथ्वी का अक्ष और ध्रुवतारों को
मिलाने वाली रेखा में से गुजरते हुए धरातल
(Plane) में पृथ्वी का अक्ष रहता है ।
पृथ्वी की प्रत्येक स्थिति में अक्ष की स्थितियां
परस्पर समानांतर रहती हैं । ये समानांतर रेखायें
अतिदूर ध्रुवतारों पर मिलती हुई प्रतीत होती हैं ।
इसलिये पृथ्वी की उत्तर दक्षिण दिशाएँ सर्वदा
स्थिर रहती हैं । पृथ्वी के समुद्राग्न दक्षिण और

बाम और पूर्व और पश्चिम दिशाओं स्थिर हैं ।
 पृथ्वी उत्तर-पश्चिम-दक्षिण-पूर्व इस क्रम में सूर्य
 के गिर्द घूमती है । जैसे २ पृथ्वी उत्तर से
 दक्षिण की ओर जाती है वैसे २ पृथ्वी का
 उत्तरीय ध्रुव सूर्य के सम्मुख होता जाता है
 और जैसे २ दक्षिण से उत्तर की ओर जाती है
 वैसे २ पृथ्वी का दक्षिणीय ध्रुव सूर्य के सम्मुख
 होता जाता है । जब पृथ्वी दक्षिण की ओर जा रही
 हो तो उत्तरायण काल होता है और जब उत्तर की
 ओर जा रही हो तो दक्षिणायन काल होता है । इस
 प्रकार उत्तरायण काल की तीन और दक्षिणायन
 काल की तीन ऋतुयें बनी हैं । भूमध्य रेखा पर
 जो प्रदेश हैं उनका दक्षिणायन और उत्तरायण
 काल तुल्य होता है । भूमध्य रेखा से जो देश
 जितना २ उत्तरीय ध्रुव की ओर है उनका उत्तरा-

(५१)

दीर्घ तथा जो देश जितना २ दक्षिणीय ध्रुव की ओर हैं उनका दक्षिणायन काल उतना २ लघु और उत्तरायण काल दीर्घ होता है। जिस जिस प्रदेश पर जितना २ अधिक सूर्य रहता है औषधियां उतनी अधिक गर्म और रूक्ष होती हैं और जितना २ कम सूर्य रहता है उतनी उतनी कम गर्म वा शीत और रूक्ष औषधियां होती हैं। सूर्य की इस शक्ति को ध्यान में रख कर भूगोल के पांच हिस्से कर दिये हैं : भूमध्य रेखा से तीन हिस्से ऊपर हैं और तीन नीचे हैं। भूमध्य रेखा के साथ लगने वाले दोनों हिस्से मिला कर एक समझे जाय तो पांच हिस्से इस प्रकार बनते हैं।

उष्ण कटिबंध, उत्तरीय शीतोष्ण कटिबंध, दक्षिणीय शीतोष्ण कटिबंध, उत्तरीय शीत कटिबंध, दक्षिणीय शीत कटिबंध।

पदार्थों की शीतता, उष्णता और रुक्षता
 यदि पर्वत और समुद्र का भी असर पड़ता
 है। पर्वत प्रदेश शीत हैं और उनपर जल भी नहीं
 ठहर सकता बहजाता है अतः ऊँचे पर्वतों की
 औषधियाँ शीत और रुक्ष होनी चाहिए श्लेष्म-
 वर्द्धक नहीं होनी चाहिए। वहाँ के मनुष्य भी
 पतले छोटे मेहनती फुर्तीले और रुखे स्वभाव
 के होने चाहिए जो पर्वत जलसे परिपूर्ण हैं।
 जिनसे १२ मास नदियाँ बहती रहती हैं उनमें
 जल के कारण शीत स्निग्ध वात विकार नाशक
 वल्य वृष्य औषधियाँ होनी चाहिए। वहाँ के
 मनुष्य सामान्य पर्वतियों से अतिरिक्त स्निग्ध,
 कोमल, निष्कपटी मधुर स्वभाव के होने चाहिए
 जो प्रदेश समुद्र के किनारे हैं वहाँ जलकी
 प्रधानता से औषधियाँ स्निग्ध होंगी, उष्ण
 कटिवन्ध में वे उष्ण स्निग्ध और शीतोष्ण वा

शीत कटिबन्ध में शीतस्निग्ध होंगी। ऐसे स्थान के मनुष्य भी बहुत परिभ्रमी नहीं होंगे, मोटे होंगे सुस्त होंगे, धनी होंगे, इनको श्लेष्मा के रोग अधिक होंगे। जो प्रदेश समुद्र के समीप नहीं है मैदान हैं वहाँ की औषधियाँ रुक्त होंगी शीतोष्ण वा शीत कटिबन्ध में शीत और उष्ण कटिबन्ध में उष्ण होंगी।

भारत वर्ष में उत्तरीय भारत शीतोष्ण कटिबन्ध में है और दक्षिणीय भारत उष्ण कटिबन्ध में है। उत्तरीय और दक्षिणीय भारत की सीमा विन्ध्य पर्वत है। विन्ध्य पर्वत कर्क रेखा के दक्षिण की ओर कर्क रेखा के किनारे पर है। उत्तरीय भारत की उत्तर दिशा में हिमालय की श्रेणी है हिमालय इतना ऊँचा है कि इसमें भूमध्य रेखा से ध्रुव तक ताप मान का जितना भेद है सब मिलजाता है। कहा है:—

In ascending the Himalaya Mountains the same ranges of temperature are experienced as in proceeding from the Equator to the Pole.

Longmans, geographical series for India

Book II. The World.

हिमालय पर्वत जलसे परिपूर्ण है। इससे १२ मास बहने वाली नदियां उत्तर से दक्षिण-उत्तर को बहने वाली और दक्षिण-पश्चिम को बहने वाली नदियाँ अनेक निकलती हैं। वाष्प परिपूर्ण वायु पूर्व दिशा से उठी हुई हिमालय के पूर्वीय किनारे से पश्चिम किनारे की ओर चलती जाती हैं, इस लिये पूर्वीय किनारे पर अधिक वर्षा होती है और पश्चिम किनारे की तरफ कम होती जाती है। हिमालय के

दक्षिणीय पार्श्वपर अधिक वर्षा होती है और उत्तरीय पार्श्वपर कम होती है। उत्तरीय पार्श्व दक्षिणीय पार्श्व की अपेक्षा अधिक गर्म है।

इन सब उपर्युक्त विचारों को ध्यान में रखकर हिमालय की औषधियां जल प्रधान होने से सौम्य हैं, स्निग्ध हैं, वल्य हैं, वृष्ण हैं। विन्ध्य पर्वत की औषधियां उष्ण हैं आग्नेय हैं। साधारणतः भारतवर्ष में ऊपर सौम्य, शीत गुण प्रधान औषधि हैं और नीचे २ आते हुए आग्नेय, उष्ण गुण होती जाती हैं। हिमालय पर्वत में रुक्ष, स्निग्ध, अत्यन्त शीत और अत्यन्त उष्ण सब प्रकार की ऋतु (Climate) मिलने से वहां सब प्रकार की औषधियां प्राप्त हो सकती हैं ॥

(६३) -वातपित्त श्लेष्मा का भेद निरूपण-

चरक संहिता में वायु के पांच भेद किये हैं

“ वायुः प्राणोदान समान आनायानात्मा । ”

वायु की पांच प्रकार की गति उपर्युक्त वायु के भेदों में बताई है। श्वसन (Inhalation) और निश्वासन (Exhalation) को प्राणन क्रिया कहते हैं। शरीर पर बाहर के वायु मण्डल का दबाव पड़ता है। जब फुफ्फुस संकुचित अवस्था में होते हैं तो खाली होने से अन्दर दबाव कम और बाहर अधिक होता है, इस लिये बाहर से वायु नासिका छिद्रों द्वारा फुफ्फुस में घुसती है। इस क्रिया को श्वसन या (Inhalation) कहते हैं। भीतर गई हुई वायु में कर्वनिकासलगैस (Car) तथा जल वाष्प मिल जाने से बाहर की वायु के दबाव की अतेजा भीतर की वायु का दबाव बढ़ जाता है, इस लिये भीतर से वायु बाहर निकल आती है।

जाती है । श्वसन क्रिया में Diaphragm) वक्षः कोष्ठ मध्यवर्ति पेशी नीचे को दबजाती है । (Diaphragm) के नीचे को दबने से कोष्ठगत अवयव नीचे को दबते हैं और पेट फूलता मालूम होता है । Diaphragm नीचे को दबकर फिर पीछे को लौटता है तब फुफ्फुसों को दबाकर भीतर की वायु को बाहर धकेलता है । इस प्रकार श्वसन और निश्वसन सम्यन्धी प्राणन क्रिया होती रहती है । बाह्य वायु जिस समय सूर्य की उष्मा से तप्त होकर हलकी होजाती है वा वाष्प से पूर्ण होकर हलकी होजाती है तो उसका दबाव कम होजाता है । कोष्ठ के पूर्ण होने से वा श्राँतों में वायु (Latus) वा मल के भरजाने से Diaphragm में गति क्रिया नहीं होसकती, अतः फुफ्फुस की वायु

और बाहर की वायु में दबाव की समता के लिये फुफ्फुस की वायु जितनी पहले बाहर जाती थी उसकी अपेक्षा अधिक बाहर जाने लगेगी । इस प्रकार प्राण की ऊर्ध्व गति होनेसे प्राण वायु कुपित कहाती है ।

उदान वायु से गीत भाषण आदि कार्य होते हैं (Larynx) स्वर यन्त्र इसका मुख्य स्थान है । स्वर यन्त्र शोथ होने से मलों के अति स्राव या अस्त्राव से श्लेष्मा से कंठ के आवृत होजाने से उदान वायु कुपित होजाता है । स्वर यन्त्रकी पेशियों में लचक नहीं रहती कठोर, रुद्ध या शिथिल होजाती है । यथा विधि उपचार से उदानवायु कार्य कारी होजाता है ।

समान वायु का कम आत्मीकरण (assimilation) है । वह चोष्टा जो भोजन

(६७)

के साथ पित्त को मिलाकर अणुओं को
विच्छिन्न करके भोजन के रस को रक्त में पहुँ-
चाती है समान वायु है। समान वायु के कुपित
होजाने से अजीर्ण अतिसार, मलबन्ध, प्रवाहिका
आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

किसी धातु, को धात्वन्तर में परिणत
करना, यथा स्थान धातु को पहुँचाना व्यान
वायु का कर्म है। इस व्यान वायु के कुपित
होने से धातुओं का बनना रुक जाता है।

शरीर में external and internal secretion का
कार्य अपान वायु का है। अपान वायु के
कुपित होने से ग्रन्थियों के कार्य मंद पड़ जाते हैं
शरीर का पोषण तथा शोधन मंद पड़ जाते हैं।
इसे प्रकार वायु पञ्चधा विभक्त होकर तथा अनेक
उपभेदों में विभक्त होकर शरीर को धारण कर रहा है।

(६८)

इसी प्रकार पित्त के भी पाचक, रंजक, साधक आलोचक, भ्राजक पांच मुख्य भेद हैं। आमाशय में गया हुआ अन्न आमाशयस्थ पाचक रस उद्वहरिकास्तल Hce से अम्लयुक्त होकर समाने नायु के कर्म से ग्रहणी नाड़ी में गमा हुआ अम्लीय प्रति किया से यकृत (liver) और क्लोम (pancreas) से पाचक पित्त को खींचता है। यह पाचक पित्त भुक्त द्रव्य का पाक करता है। रस दोष, मूत्र और पुरीष का विभाग करता है। अन्न रस रस बहा नाड़ी (Portal vein) के द्वारा यकृत में पहुंचता है यकृत और प्लीहा में (Hoem (glogim) रंजक पित्त तैयार होता है। इस रंजक पित्त से अन्न रस रञ्जित होकर महती अधः शिरा (Inferior venacava) द्वारा हृदय

(६६)

में पहुंचता है। हृदय से Pulmonary vein द्वारा फुफ्फुस में पहुंचकर फिर Pulmonary artery द्वारा हृदय में आजाता है। रक्त पित्त फुफ्फुस में वाह्य वायु से प्रविष्ट हुई ओषजन (oxygen) से मिलकर oxyhaemoglobin बनजाता है। इसको रुधिर के श्वेतकण (white corpuscles) धूसर कर लाल कण बनजाते हैं। फुफ्फुस में वर्तमान यह ओषजन साधक पित्त है, क्योंकि रुधिर के कणों के साथ मिलकर शरीर में घूम जाती है और अभिष्ट मनोरथ को सिद्ध करती है यह रक्त चक्षु में गया हुआ चक्षु के ताल (Lens) की पारदर्शकता को रखता है। ताल की पारदर्शकता को रखने वाला पित्त आलोचक पित्त कहाता है।

शरीर में रक्त संचार से फैला हुआ साधक पित्त त्वचा में आकर त्वचा को उष्ण

(५०)

रखता है। त्वचा पर लगाये हुये द्रव्यों को सुखाता है। त्वचा की कांति को रखने वाली त्वग्रन्थियों के स्रावों को बनाता है। त्वचा की कांति रखने वाला त्वग्रन्थियों का स्राव भ्राजक पित्त है।

इसी प्रकार सुश्रुत संहिता में श्लेष्मा के फलेदन, अवलम्बन, रसन, स्नेहन, और श्लेष्मण पांच भेद किये हैं। आमाशय में प्रविष्ट हुये अन्न हर वर्षा के समान आमाशय की भित्ति से श्लेष्मा का स्राव होता है। इस श्लेष्मा की प्रति क्रिया से ग्रहणी में से भी आमाशय में पाचक रस पहुँचता है। ग्रहणी का और आमाशय का रस मिलकर उदासीन होजाते हैं, अम्ल या क्षार में नहीं रहते। यह मधुर रस अन्न के साथ मिलकर अन्न को मधुर और क्लिन्न करता है क्लिन्न करने के कारण ही फलेदक श्लेष्मा कहाता है।

(७१)

अन्न रस का कुछ श्लेष्मिक भाग लसी का वाहि
 नियां (Lymphatic) खेंच लेती है । वह
 भाग (Lymphatic channel) के द्वारा बांमजत्रु
 अस्थि और वक्षोस्थि की संधिके पास अनमिका
 शिर (Innominate vein) में पहुंचता है ।
 फिर फुफ्फुस में प्रविष्ट होकर उदक कर्म से
 उरस्थनाप और घर्षण को उचित मात्रा में
 रखता है । इस प्रकार उरःस्थ श्लेष्मिक ग्रंथियों
 को पूरण करता है । यह उरः स्थ श्लेष्मा फुफ्फुस
 हृदय और फुफ्फुसावर्णी कला और हृदयावर्ण
 कला को अवलम्बन करता है इस लिये अवलम्बन
 श्लेष्मा कहलाता है । जब जिह्वा सूख जाती है, फट
 जाती है और खुदरी हो जाती है तब रस का
 ज्ञान ठीक नहीं कर सकती । लाला ग्रंथियां
 (Salivary Glands) श्लेष्मा का मुख कर के
 जिह्वा को आर्द्र रखती हैं और इस ग्रंथि में

(७२)

समर्थ करती है। यह श्लेष्मा रसन है इस की कमी को पूर्ति रक्तस्थ श्लेष्मिक द्रव से होती है। रक्त संचार के द्वारा शिर में गया हुआ श्लेष्मा इन्द्रियों (Nerves) को संतर्पण करता है, सींचता है इस लिये स्नेहन कहलाता है। संधियों में स्थित श्लेष्मा संधियों को जोड़ता है इस लिये श्लेषण कहाता है। जब यह न हो वह कम हो तो संधिया सखन, रूखी, सूखी हो जाती हैं उनमें गति नहीं हो सकती।

यह दोषों का भेद निरूपण लेख के अति विस्तार के भय से संक्षेप में ही समाप्त किया है।

आयुर्वेद के साथ षट् दर्शनों के
दार्शनिक विचारों की तुलना

धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यमूलमुत्तमम् ।

रोगस्त स्यादपहृत्तोर भयसो जीवितम च ।

(७३)

आयुः कामय मानेन धर्मार्थं सुख साधनम् ।

आयुर्वेदोपदे शेषु विधेयः परमादरः ॥

इस कथन के अनुसार धर्म, अर्थ और सुख का साधन आयु है । आयु बिना आरोग्य के नहीं रह सकती । रोग आयु को हरते हैं । इस लिये आयुर्वेद की सहायता से स्वास्थ्य रक्षा और रोग चिकित्सा करनी चाहिये । जिस मनुष्य ने आयुर्वेद की आज्ञाओं का पालन करके अपनी आयु की रक्षा की और अपने को दीर्घ जीवी बनाया, उस मनुष्य को अपनी स्थिति उत्तम बनाने के लिये धन की कामना भी करनी होती है । बिना धन के दरिद्रतामय जीवन पापमय जीवन है । यदि इस जन्म के अनन्तर कोई और जन्म नहीं होता और पहले भी जन्म नहीं था तो दीर्घायु और वित्तोपा-

(७४)

जन्म के लिये प्रयास व्यर्थ हैं क्यों कि जितना ही शीघ्र जीवन समाप्त हो जाय उतना ही अच्छा है। इस लिये यह संशय हुआ कि पुनर्जन्म होता है व नहीं। च०सू०अ० ११ में सत् और असत् के विषय की परीक्षा आप्तोपदेश प्रत्यक्ष अनुमान और युक्ति इन चार प्रमाणों से करनी लिखी है। व्याय दर्शन में “प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि” के अनुसार चार प्रमाण माने हैं। शब्द का लक्ष्य “आप्तोपदेशः शब्दः” लिखा है। जिन्होंने धर्म को साक्षात्कर लिया है जिन्हें संशय नहीं है उन ऋषियों को आप्त कहते हैं। उनका कथन सर्वदा सत्य ही होता है। च०सू०अ० ११ में कहा है।

रजस्तमौभ्यां निर्मुक्ता स्तयो ज्ञानवलैर्नयै ।

मैषां त्रिकालममले ज्ञान नव्याहतं सदा ।

प्राप्ताः शिष्ट विबुद्धास्तै तेषां ज्ञानमसं शयम् ।
सत्यं वक्ष्यन्ति तै कस्मादसयं नीर जस्तनाः ॥

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष का लक्षण “ इन्द्रि-
यार्थ सन्निकर्षो तपन्नं ज्ञान मव्य पदेशम व्यभिचा-
रि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ”, किया है। और
बसू० अ० ११ में इस प्रकार किया है।

आत्मैन्द्रिय मनोरथानां संनि कर्षत्युक्तै ।
व्यक्ता तदात्मे या वृष्टिः प्रत्यक्षांसा निरुच्यते ॥

अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि, और व्यवसाया-
त्मक का भाव चरक ने व्यक्त शब्द से लिया है।

अनुमान का विरूपण चरक और न्याय-
दर्शन में एक जैसा है।

चरका चार्य ने युक्ति शब्द न्याय दर्शन के लिये अच्छा चुना है। उपमान का लक्षण है—“ प्रसिद्ध साधर्म्यात्साध्य साधनमुपमानम् ”। समानो धर्मो येषां ते साधर्माणः तेषां भाव साधर्म्यम् जिस वस्तुओं का एक ही आधार है अर्थात् मिल कर उसको बना रही है। उनके इस प्रसिद्ध भाव से साध्य का सिद्ध करना उपमान कहा जाता है। गो और गवय में जो प्रसिद्ध समान धर्म है जिसमें गो और गवय दोनों एकट्ठे हैं उसको लेकर साध्य गवय को सिद्ध करना उपमान कहा जाता है। च० सू० अ० ११ में युक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है।

बुद्धि पश्याति या भावान् बहुकारणयौगजानू
युक्ति स्त्रिकाला साज्ञेया लिबर्ग रसाध्यैतै पया ॥

युक्ति उस बुद्धि को कहते हैं जो बहुत कारणों के मेल से उत्पन्न भावों को देखती है। इन प्रमाणों से च सू० अ० ११ में पुन जन्म की अच्छी प्रकार परीक्षा की है।

चरक संहिता में सत् असत् की परीक्षा के लिये जिस प्रचार प्रमाण नियत किये हैं। सुश्रुत संहिता अ० अर्द्ध ५ में बत्तीस तन्त्रयुक्त वर्णन की है। जिनसे परीक्षा की जाती है या वाक्य और अर्थों की योजना की जाती है। इन तन्त्र युक्तियों से प्रतिपक्षी के कथन का प्रतिषेध और अपने कथन की सिद्धि की जाती है। जो विषय शास्त्र में स्पष्ट है या नहीं कहै या अस्पष्ट हैं गूढ़ है व बीज रूप से कह दिये हैं उन सब जानने योग्य विषयों का प्रकाश करने के लिये ३२ सन्म युक्तियाँ हैं।

या ॥ —

अधिकरण, योग, पदार्थ, है शब्द, उद्देश, निर्दुःश, उपदेश, अपदेश, प्रदेश, अतिदेश अपवर्ग, वाक्य शेष, अर्था पत्ति, विपर्यय, प्रसंग, एकांत, अनेकांत पूर्णपक्ष, निर्णय, अनुपपत्ति, विधान, अनागतावेक्षण, अतिक्रान्तावेक्षण, संशय, व्याख्या, अन, स्वसंज्ञा, निर्गचम, निदर्शन, विकल्प, समुच्चय, उत्था ।

च० वि० अ० ८ में बाद (बहस) कैसे करनी चाहिये यह अच्छी प्रकार दिखाया है । इसमें ५० पदों और १० प्रकरणों का कथन है । इनसे परीक्ष्य की परीक्षा की जाती है । जिनमें चाहे प्रमाण भी आगये हैं । यथा बाद, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, प्रतिज्ञा, स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतु, उपपत्ति, निगमनम्, उत्तरम्, हृष्टा

देश, पचन, क्रांत, प्रधान, ताख्या, मुच्च-
 सिद्धांतः, शब्दः, मत्यक्षम्, औपभ्यम्, पतिह्यम्,
 अनुमानम्, संशय, प्रयोजनम्, सव्य मिचारम्,
 जिज्ञासा, व्यवसाय, अर्थ प्राप्ति, संभवः, अनुयो-
 ग्यम्, अनुयोगः, प्रत्यनुयोगः, वाक्य म्यूनता,
 वाक्या धिक्क्यम् अनर्थकः, अपार्थकः विरुद्धः,
 वाक्य प्रशंसा, वाक्यलम्, समान्य छलम्, प्रकरण
 समः संशयसमः, वर्णयसमः, अनीत कालम्,
 उपालम्भः, परिहारः, प्रतिज्ञा हानिः, अन्तुज्ञा
 हेतुवन्तरम्, अर्थान्तरम्, नियह स्थानम्। ये ५०
 पद हैं।

कारण, करण, कार्य्ययोनि, कार्य्य, कार्य्य
 फल, अनुबन्ध, देश, काल, प्रवृत्ति, ये दस प्रक-
 रण, हैं।

इस परीक्षा में विशेष करके चरका चार्य्यो-
 हृष्टाक परीक्षा में न्याय दर्शन के १५ पदार्थ और नै-

शेषिक दर्शन के छः पदार्थ पूर्णतया सम्मिलित हैं ।
चरक संहिता का प्रमेय निरूपण न्याय दर्शन से
विशेषतया और कुछ नैशेषिक से मिलता है ।

च०सू०अ० १ में आयु का लक्षण करते हैं।

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसयोगो धारिजीवितम् ।
नित्यगश्वनुबन्धश्च पर्याय में रापुरुच्यते ॥

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्माका संयोग
उचित अवस्था में दीर्घ काल तक बना रहे इसी
लिये चिकित्सा शास्त्र की प्रवृत्ति है ।

इसी स्थान में नैशेषिक कोल द्रव्य, गुण
कर्मा, सामान्य विशेष, समवाय इन पदार्थों का

निरूपण है। ये द्रव्य रोग, भेषज और चिकित्सा कर्म का आश्रय होने और प्रमाणों करके परीक्ष्य होने से प्रमेह हैं।

च० सू० अ० २५ में द्रव्य दो प्रकार के बताये हैं—एक चेतन, दूसरे जड़। ये पांच भूत हैं इनके २० गुण हैं। यथा—

गुरु लघु, शीत उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर; सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल,

श्लेष्म, खर, सूक्ष्म, स्थूल, साद्र, द्रव ।

पांच कर्म हैं—वसन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन, श्लेष्मि ।

द्रव्य अपने प्रभाव से अथवा अपने गुण के प्रभाव से अथवा दोनों के प्रभाव से उचित रूप से कार्य करता है।

पर उस २ अधिष्ठान और उस २ योग को प्राप्त करके जो २ कार्य करते हैं उस २ कार्य को कर्म कहते हैं। जिसके द्वारा उस कार्य का सम्पादन होता है उसे वीर्य कहते हैं। जिस समय वह कार्य किया जाता है। उसे काल कहते हैं। जिस तरह किया जाता है उसे उपाय कहते हैं और उस कर्म के द्वारा जो प्रयोजन सिद्ध होता है उसे फल कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म, के साथ आयुर्बेद में वीर्य, काल, उपाय और फल ये पदार्थ भी माने गये हैं।

आयुर्बेद में द्रव्यों के २० गुण उनके कार्य की दृष्टि से माने गये हैं, परन्तु इनके साथ १० गुण और भी माने गये हैं जो चिकित्सा की सफलता के उपाय हैं। वे इस प्रकार हैं—
कर्म, साधन

(८३)

पर, अपर, युक्ति, संख्या, संयोग, पृथक्त्व,
परिणाम, संस्कार, अभ्यास । इनके बिना चिकि-
त्सा ठीक नहीं चलती ।

चिकित्सा बहुत कुछ भूतों से उत्पन्न रसों
को ध्यान में रख कर होती है । इस लिये द्रव्यादि
छः पदार्थों के अतिरिक्त छः रस द्रव्यों के आश्रित
स्वीकार किये हैं । भिन्न २ रस वाले द्रव्य शरीर
में पकते हुए उसी रस वाले द्रव्य शरीर में पकते
हुए उसी रस वाले नहीं रहते जो उनका रस पहि-
लें होता है । पाकके अनन्तर जो रस उत्पन्न होता है
उसको विपाक कहते हैं । इस विपाकको भी स्वीका-
र करना पड़ा क्यों कि इसके अनुसार द्रव्य का
प्रभाव शरीर पर देखा जाता है । परन्तु बहुत से
द्रव्य ऐसे हैं जिनका प्रभाव गुण, रस, वीर्य

(२४)

पाक किसी के अनुसार कल्पना नहीं किया जा सकता, अतः उन द्रव्यों का विचित्र प्रभाव पदार्थ की भी कल्पना करनी पड़ो। क्योंकि जैसे चीता (चित्रक) और दन्ती दोनों रस और पाक में कटु हैं, उष्ण वीर्य हैं। परन्तु दन्ती प्रभाव से रेचन करती है चित्रक नहीं।

सामान्य और विशेष पदार्थ भी चरक ने बहीकार किये हैं। सामान्य वृद्धि का कारण है और विशेष हास का कारण है क्योंकि सामान्य एकता वा मिलाप को करने वाला है और विशेष भेद डालने वाला है।

वात पित्त श्लेष्मा और पञ्च भूतों का संकलन तो दिखाया ही जा चुका है। परन्तु आयु-

(८५)

पञ्च महा भूतों के विचार तक ही नहीं रह गया, सांख्यसिद्धांत के अनुसार मूल प्रकृति तक पहुँचा है। सुभूत शरीर स्थान अध्याय १ में सांख्य के २५ तत्वों का विस्तृत निरूपण किया है। इसी में प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य बौद्धर्म्य निरूपण किया है। पुरुष, प्रकृति दोनों को सर्वज्ञत कहा है। पुरुष अर्थात् जीवात्मा सर्वगत होते हुए भी अनेक स्वीकार किये हैं। परन्तु कर्म पुरुष जो पंच महाभूत शरीरि समवाय माना है वह असर्वगत है नित्य है इस कर्म पुरुष के १६ गुण कहे हैं।

सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अज्ञान, उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मन, संकल्प, विचारण स्मृति, अध्यवसाय, विषभोग, तन्निधि ।

(६६)

यह कर्म पुरुष पुराय कर्मों के प्रभाव से वे
 दनाश्रों को दूर करता है । आत्मा, इन्द्रिय, मन
 और अर्थों के सन्निकर्ष से वेदना उत्पन्न होती हैं ।
 जब मन बिना किसी कार्य की प्रवृत्ति के आत्मा में
 स्थिति हो जाता है तब सुख दुःख दोनों की निवृ-
 त्त हो जाती है । योगियों का अवृत्तल प्राप्त हो-
 ता है । तब रज और तम के अभाव से, बलवान
 कर्मों के क्षय हो जाने से मोक्ष मिलता है, इसी को
 कर्म संयोग का छूटना वा अपुनर्भाव कहते हैं ।

मोक्षो रजस्तमोऽभावा द्रव्यवृत्तकर्म संज्ञयान् ।
 वियोगः कर्म संयोगै रुपुनर्भाव उच्यते ॥

इससे परे भूतात्मा ब्रह्म में मिल जाता है
 उसकी प्राप्ति नहीं होती । सम्पूर्ण भावों से दृष्ट

होने पर उसका कोई विशेष चिन्ह नहीं रहता ।
ब्रह्म वेताओं की गति ब्रह्म है, न वह नाश को प्राप्त
होती है और न उसका कोई लक्षण है । ब्रह्मवेता-
ओं के ज्ञान को अज्ञ लोग नहीं जान सकते ।

अतः परं ब्रह्म भूतो भूतात्मा नोपलभ्यते ।
निःसतः सर्व भोर्विभ्यः चिन्हं यस्य नविद्यते ।
गतिं ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम् ।
ज्ञानं ब्रह्म विदाज्ज्ञानं नाज्ञस्तज्ज्ञातुं मर्हति ॥

यह वेदांत दर्शन के अनुसार जीवात्मा का
परमात्मा में लय माना है । वेदांत दर्शन एक आ-
त्मा—सर्वगत कारण शरीरोपाधि से सुख दुःखा-
दिका देखने वाला है । परन्तु आयुर्वेद में अनेक
जीवात्मा सर्वगत माने हैं । यहां वेदांत से आयुर्वेद-
का मत भेद है ॥

(८८)

—उपसंहार—

इस प्रकार आयुर्वेद जीवन रक्षा और दीर्घजीवन के उपायों को बताता हुआ मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी बना कर संसारसे मुक्ति दिलाता है प्रवृत्ति मार्गका निरूपण भी इसमें निवृत्तिमार्ग के लिये है

इस प्रकार आयुर्वेद के दार्शनिकतत्त्व को उन्नत और बढ़ किया जाय तो किसी विदेशीय द्रष्टादेशीय चिकित्सक की हिम्मत नहीं पड़ सकती कि आयुर्वेद के लिये कोई अपमान जनक शब्द भी बोले । इस लिये आयुर्वेद की पताका को संसार में उज्ज्वल करने के लिये अपने आप तो वैद्य कहलाने वाले प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि आयुर्वेद के दार्शनिक तत्त्व को उज्ज्वल करके विदेशीयों के सामने रखे । इससे सर्वात्र भूगोल में आयुर्वेद की जय मनाई जावेगी ॥

स्वती, माधुरी आदि प्रसिद्ध पत्र पत्रिकाओं
के आकार प्रकार का आयुर्वेदीय
सचित्र मासिक पत्र

धन्वन्तरि

म दावेके साथ कह सकते हैं कि धन्वन्तरि
एक पत्रों में सर्व श्रेष्ठ और हिन्दी पत्रों में
य से सस्ता सचित्र मासिक पत्र है क्योंकि
(४) वार्षिक मूल्य से वर्ष भर में ३ विशेषांक
न रुपये मूल्य के और चार रुपये मूल्य की
एक पुस्तक भेंट करता है। नमूना (२) की
कट भेज मंगा देखिये।

डा. वैद्य बांकेलाल गुप्त सम्पादक धन्वन्तरि
विजयगढ़ (अलीगढ़)

वैद्याँ के लिये

स्वरूप मूल्य में आयुर्वेदोद्य सिद्ध औषधियाँ,
वनस्पतियाँ, आयुर्वेदीय, युनानी, डाक्टरी, पुस्तकें, औषधि
वनानेकी सामग्री, तथा चिकित्सापयोगी वस्तु आदि
आदि। पैद्य, डाक्टर और हकीमोंके काममें आनेवाले
सबही पदार्थ हमारे यहां बड़ी किफायतसे मिलसकते
हैं एक बार पत्र व्यवहार अवश्य कर देखिये ।

निवेदक—वैद्य बालकिलालगुप्त

व्यवस्थापक—श्रीधन्वन्तरि कार्यालय

हेडऑफिस—बिजयगढ़ जिलाअलीगढ़

ब्रांच ऑफिस—मालावाड़ा देहली

पसरश बाजार हाथरस

नहरई दरवाजा कासगंज

Dec. 1942

ARCHIVES DATABASE
2011-12



